

नवगीत का सौंदर्यबोध

राजेन्द्र वर्मा

नवगीत नवता का पक्षधर है। नवता उसके सभी अवयवों में है— वह चाहे उसका छंदविधान हो अथवा उसके बिम्ब-प्रतीक। कथ्य में समय-सापेक्षता और चिंतन में प्रगतिशीलता, उर्ध्वगामिता और लोककल्याण की भावना होती है। वह न केवल समय की चुनौती को स्वीकारता है, बल्कि उससे दो-दो हाथ निपटने की भी बात करता है।

वस्तुवादी पश्चिमी आलोचक, ऐंगल के अनुसार, वस्तुसत्य साहित्य ही मनुष्य के मनुष्य होने का प्रमाण है। अपने रचाव में उसे प्रकृति के मानवीय रूप, संस्कृति और लोकतत्त्व को समेटने की आवश्यकता होती है। इसलिए पारम्परिक गीतों जो बिम्ब-प्रतीक योजना कारगर थी, नवगीत में वह अप्रासंगिक हो जाती है। अंतर्वेदना, प्रेमोत्सर्ग, अध्यात्मिकता, त्याग-बलिदान आदि भावों से सजे गीतों पर अब ऐसे गीतों पर शायद ही कोई रीझे। अब तो जिन गीतों में समष्टि की कोई संवेदनशील बात हो, प्रगतिशील वैचारिकी को सम्प्रेषित करते बिम्ब-प्रतीक हों, वे ही हमें भाते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे गीतों के अंकन में हमारे आस-पास के लोकधर्मी प्रतीक-बिम्ब ही कारगर होंगे, क्योंकि उनसे ही सामयिक बोध प्रकट हो और जीवन को सही दिशा मिले। यही नवगीत का सौंदर्यबोध है।

निराला का कथन है कि काव्य को व्यक्ति की तरह स्वतंत्र होना चाहिए। इसका अर्थ यही है कि गीत अपने एक ही रूप में अधिक दिनों तक नहीं जीवन्त रह सकता। उसे स्वयं को बदलना होगा- रूप और कथ्य, दोनों स्तरों पर। निराला ने इसे करके भी दिखलाया। उनके एक बंध वाले गीत में आज का नवगीत उपस्थित है, यद्यपि उस समय 'गीत' ही प्रचलित था—

हमारा डूब रहा दिनमान !

मास-मास दिन-दिन प्रतिपल
उगल रहे हो गरल-अनल,
जलता यह जीवन असफल;
हिम-हत-पातों-सा असमय ही
झुलसा हुआ शुष्क निश्छल!

विकल डालियों से—
झरने ही पर है पल्लव-प्राण—
हमारा डूब रहा दिनमान !

इस गीत का कथ्य, रचाव, भाषा और उसकी बिम्ब-योजना देखिए। इसमें पारम्परिक गीत का सौंदर्य नहीं है, बल्कि इसकी व्यंजना हमें नवगीत के सौंदर्यबोध से परिचित कराती है। संघर्षरत आदमी जब टूटता है तो उसकी वेदना का स्वर ऐसे ही उभरता है— तीव्र संवेग और तड़प में डूबा, पाठक के मर्म में देर तक उपस्थित रहने वाला। लेकिन यह अभिव्यक्ति का एक पहलू है। नवगीत जीवन के सभी पक्षों को तीव्रता से प्रस्तुत करता है। सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों, जीवन-संघर्ष और बिखरते जीवनमूल्यों के मार्मिक चित्रण में उस पर जिजीविषा, आत्मविश्वास, पारस्परिक विश्वास की रक्षा और प्रकृति से तादाम्य बनाये रखने का भार भी है। नवगीत में गाँव, नदी, समुद्र, जंगल, पशु-पक्षी आदि के चित्रण-भर से काम नहीं चलता, उन्हें आत्मसात कर उन्हें मानवीय संवेदना से सम्पृक्त कर प्रस्तुत करना होता है।

नवगीत का सौंदर्य-बोध द्विआयामी है : बाह्य और आंतरिक। बाह्य सौंदर्य से आशय है— छंद (लय), तुकांत, भाषा आदि और आंतरिक सौंदर्य से आशय है— भावों का गुम्फन, कथ्य की संप्रपणीयता और कला का लोकमंगल रूप।

छंद, तुकांत, भाषा आदि तो प्रथमदृष्टया अच्छी लगने वाली बातें हैं, जैसे जिस छंद का चुनाव हो उसमें लय हो, बल्कि उसे तोड़कर यति द्वारा विशिष्ट लय उत्पन्न की गयी हो ताकि वह प्रभावी ढंग से अपना अर्थ खोल सके। तुकांत केवल तुकांत की पूर्ति के लिए ही न हों, वे कुछ अर्थ भी व्यंजित करते हों, भले ही उनमें थोड़ी छूट ली गयी हो। देशज शब्द और मुहावरे नवगीत के कथ्य को धारदार बनाते हैं। लेकिन यहाँ सतर्कता बरतने की भी ज़रूरत है— कहीं ऐसा न हो कि प्रत्युक्त शब्द अपना अर्थ ही न खोल पाए। कभी-कभी तत्सम शब्दावली के बीच उर्दू-फ़ारसी के ऐसे क्लिष्ट शब्द आ जाते हैं कि पूरी शब्द-योजना दूषित हो जाती है। आंतरिक सौंदर्य की दृष्टि से, भावों का गुम्फन कुछ इस प्रकार हो कि पंक्तियाँ अलग-थलग न दिखें और कथ्य सहजता से सम्प्रेषित हो जाए। कला की उपस्थिति ऐसे हो जैसे गायन में संगीत।

प्रेम विषयक गीत और नवगीत में यों, बहुत अन्तर नहीं, फिर भी नवगीत राग-विराग, तनाव-तड़प आदि को संतुलित ढंग से प्रकट करता है और उसका स्वर भी मंद रखता है ताकि भाव-विभोरता देर तक बनी रह सके। पारम्परिक गीतों की भाँति नवगीत की प्रेम विषयक रचना का उद्देश्य मंच से पढ़कर तालियाँ बटोरना नहीं है।

आम आदमी के जीवन को दुरूह बनाता सामयिक विसंगतियों का मकड़जाल, लोकतंत्र की विफलता और उसका छद्म-प्रदर्शन, साम्प्रदायिकता, व्यवस्था के गर्भ से उपजी मनुष्य की मर्मांतक

पीड़ा, स्वार्थ-वृत्ति का पनपना और रिश्तों का टूटना, पलायन का दंश, पारस्परिक संवादहीनता, बाज़ारवाद, पूँजीवादी शोषण, श्रमिकों की दुर्दशा जैसे कथ्य के साथ जिजीविषा की रक्षा, व्यवस्था से टकराते संघर्ष करते जन के दहकते चित्त पर आस-विश्वास की छीटें, प्रकृति की मानवीय उपस्थिति और लोकधर्मी संस्कृति की तरंग जैसी वस्तुसत्यता आज के नवगीत का सौंदर्य-बोध है। आइए, कुछ नवगीतों के अंशों पर नज़र डालते हैं जिनमें कथ्य की नवीनता तो है ही, भाषा के स्तर पर तत्सम के तदभव रूप, कुछ देशज शब्दों का प्रयोग और अनूठे बिम्ब-प्रतीक टटकी व्यंजना उत्पन्न कर देते हैं।

नवगीतों के पुराधाओं में एक, शम्भूनाथ सिंह के नवगीत 'पगडंडी' की कुछ पंक्तियाँ देखें जो गीत के कथ्य में बदलाव को कैसे रेखांकित करती हैं—

छिप-छिपकर चलती पगडंडी/वन-खेतों की छाँव में ।

अनगाये कुछ गीत गूँजते/हैं किरनों के हास में

अकुलायी-सी एक बुलाहट पुरवा की रह साँस में

सूनापन है उसे छेड़ता/छू आँचल के छोर को

जलखाते भी बुला रहे हैं/बादल वाली नाव में ।

इसी प्रकार, ठाकुरप्रसाद सिंह की प्रसिद्ध रचना, 'पाँच जोड़ बाँसुरी' लोकसंस्कृति को ऐंद्रिकता के रंग में इस प्रकार रँगता है कि वह पारम्परिक गीत के सौंदर्य-उपादानों से भिन्न दिखता है—

बासंती रात के निर्मल पल आखिरी

बेसुध पल आखिरी/विह्वल पल आखिरी

पर्वत के पार से बजाते तुम बाँसुरी ।

वंशी-स्वर उमड़-घुमड़ रहा रो रहा/मन उठ चलने को हो रहा

धीरज की गाँठ खुली लो, लेकिन/आधे अँचरे पर पिया सो रहा

मन मेरा तोड़ रहा पाँसुरी/पाँच जोड़ बाँसुरी ।

छविनाथ मिश्र कवि-कर्म को रेखांकित करते हुए गीत को जब रचते हैं तो उसकी छंदयोजना, शब्दयोजना, बिम्ब-प्रतीक और जीवनदर्शन को व्यंजित करते नवगीत के शिल्प और कथ्य के सौंदर्यबोध का अनुपम उदाहरण बन जाता है—

कवि सुकर्म/नये-नये रेशों का आतनन,

हर ताना-बाना तो जीवन का आकलन ।

बीनी जब कविता की किरन-बरन चादर

मानस के तंतु-तंतु/हो गये उजागर

अंतरिक्ष-सा अकुंठ

विषपायी नीलकंठ

गंगाजल जान-मान करता निर्द्वन्द्व नित्य
गरलों से भरे/हेमकलशों का आचमन,
कवि सुकर्म/नये-नये रेशों का आतनन ।

प्रमुख नवगीतकार, शिवबहादुर सिंह भदौरिया अपनी, 'जेठ-दुपहरी' में जब निम्नलिखित पंक्तियाँ रचते हैं तो ग्राम्य-संस्कृति के परिवेश में नवगीत के कथ्य का विस्तार सामाजिक ताने-बाने को सुदृढ करने में होता ही है, संवेदना की नयी प्रविधि भी जन्म लेती है—

जेठ-दुपहरी हवा न ढुलके
गीत-अगीत हुए पिड़कुल के ।
ऊसर ठूठइल, खेत लाँघते
थके हिरन के पाँव खोजते
गहबर छाप पेड़ छिउल के ।
प्यासे राही खाली छूँछे
माँगे लोटा-डोर, न पूछे
मइया, कौन जाति, किस कुल के !

राजेन्द्रप्रसाद सिंह वे नवगीतकार हैं जिन्हें 'नवगीत' पद को पहली बार लिखित रूप में लाने का श्रेय है, की गीति-रचनाओं में नवगीत के सौंदर्य को आसानी से समझा जा सकता है। प्रेम के आदिम रूप को वे आधुनिक के विकसित परिवेश में ऐसे देखते हैं जो अविस्मरणीय बन जाती है—

पेड़ और पर्वत के नाम न थे
सिंधु और अम्बर के नाम न थे
नाम न थे फूल और रंगों के
तब भी मैं गंधवती थी/तब भी तुम तेजोमय थे ।
भाषा भंगिमा में अँकुरती थी
निकटता परस से ही जुडती थी
संगति तो संग-संग मुडती थी
तब भी मैं स्वप्रवती थी/तुम भी मेधावी थे ।

अब कुछ ऐसे नवगीतों के अंशों पर दृष्टि डालते हैं जो विविधवर्णी विषयों पर अपनी छाप छोड़ते हैं। इन अंशों में हम नवगीत के सौंदर्यबोध को विभिन्न दृष्टिकोणों से परख सकते हैं, वह चाहे ऐंद्रिकता हो अथवा सामयिक बोध—

1. ऐंद्रिकता/ स्मृति की कसक

टूटे आस्तीन का बटन
 या कुर्ते की खुले सिवन
 क्रदम-क्रदम पर मौके तुम्हें याद करने के।
 अरसे से बदला रूमाल नहीं
 चाभी क्या जाने रख दी कहाँ,
 दर्पण पर सिंदूरी रेख नहीं
 चीज़ नहीं मिलती रख दो जहाँ,
 चौक की धुआँती घुटन
 सुगगे की सुमिरिनी रटन
 क्रदम-क्रदम पर मौके तुम्हें याद करने के।

- उमाकांत मालवीय

2. सामयिक प्रसंगों में मूक वेदना का मार्मिक चित्र

मुड़ी हुई पाती-सा आँखों का भाव ।
 रुई की फाहों से ढका हुआ घाव ॥
 आँखों की भाषा है शब्द से गहन,
 कमरे से अच्छा है बाहरी सहन,
 पंछी की काया-सी भावों की नाव ।
 डूब रहा पोर-पोर सरगम-सा स्राव ॥

- जीवन शुक्ल

3. प्रकृति से टूटता तादात्म्य

नीलकंठ बोला कब, कोयल कब कुहकी,
 दिन ढले सिवाने पर कब मयूर नाचा ?
 मुरझायी हरी दूब झुलस गयी
 हँसमुख फुलवारी
 आँधी से टकराकर राख हुई,
 हरियल बँसवारी
 पोखर तक झाड़ी से कब हिरन कुलाँचा ?

- देवेन्द्र शर्मा इंद्र

4. कृषकों की दुर्दशा

गाली-झिड़की खाते, छुँछी लाज जी रहे,
 खेतों का मुँह देख खेतिहर आज जी रहे ।
 जमी सदियों से इन पर/धुएँ-धूल-धूपों की परतें
 जीने से ज़्यादा मरने की/है हरजाई कमीनी शर्तें
 इनके हाड़-मांस पर शतशः कौवे-चीले-बाज जी रहे ।
 इनके लागर कंधों पर ही/शायद पूरा देश टिका है

रखवाला होकर हाटों में/अबके ये बेभाव बिका है
सुर इनके परलोक सिधारे, अब ये केवल साज जी रहे । - नईम

5. लोकतंत्र की विफलता और सत्ता का खल चरित्र

सुनो-सुनो, हो रही मुनादी/राजा आते हैं,
वर्दी ने झोपड़ी गिरा दी/राजा आते हैं ।

सब मिट्टी के मोल बिकेगा/राजा कल बाँटेंगे सोना,
राजकुमार उधर बैठे हैं/समझो कब कैसे क्या होना?
अलग-अलग वादी-प्रतिवादी/राजा आते हैं। - अवधबिहारी श्रीवास्तव

XX XX

खुले नहीं दरवाजा/तब तक बैठे रहो भगत !
समझाया दो टूक महल के पहरेदारों ने
तुमको समय ग़लत बतलाया है अखबारों ने
अभी तुम्हारी दीन-दशा पर/बहस अधूरी है
जब तक हो फ़ैसला/भाग्य में जो है सहो भगत ! - नीलम श्रीवास्तव

XX XX

जाल हैं भीतर नदी के/घाट से हटकर नहाना ।
पीठ पर लहरें हवाएँ झेलते हैं,
आईने-सा मुस्कराकर
आदमी से खेलते हैं,
भीड़ से भीगे तटों के/पत्थरों का क्या ठिकाना ? - गुलाब सिंह

XX XX

पुस्तकें/रखकर चलो/चेहरे पढ़ें, मन को खँगालें ।
यह चुनावी शोर/तो बस/एक नारा, झुनझुना है,
जाल, यह फंदा/चतुर कुछ/खास हाथों ने बुना है,
वक्रत के इस चित्र/इस परिदृश्य से खुद को हटा लें ।
पोस्टर, विज्ञापनों में/देश का खुशहाल होना,
एक धोखा है सरासर/दीन का महिपाल होना,
सत्य के ढहते, दरकते सेतुबंधों को सँभालें । - इशाक अशक

XX XX

एक दुश्यंती सवेरा खोजते हम
थक गये दो नयन शाकुन्तल हमारे ।

पहनकर इठला उठीं/जिनको अभागी उँगलियाँ,
खा गयीं वे मुद्रिकाएँ/राजनीतिक मछलियाँ,
आत्मनिर्वासन समेटे चल दिए
छानने फिर धूल नदियों के किनारे ।

- रमेश गौतम

XX XX

दस्तकार क्यों दर्पण लाये/सत्ता तो गांधारी है ।
सावन के अंधे राजा जी/हरे काँच की आँखें है,
जितनी उजली देह कहीं/ज़्यादा उजली पोशाकें हैं,
लोकतंत्र की सुंदर ट्रे में/जनता कटी सुपारी है ।

- अरुणा दुबे

6. साम्प्रदायिकता

बहुत दिनों से नहीं आये घर/सुनो अनवर, क्या हुआ ?
आ गया क्या बीच अपने भी
छह दिसम्बर, क्या हुआ ?

टूटने को बहुत कुछ टूटा, बचा क्या
छा गयी है देश के ऊपर अयोध्या
धमनियों से निकलकर/हो रहे तलवार अक्षर
कहो अनवर, क्या हुआ ?

- वसु मालवीय

7. पूँजीवादी व्यवस्था का विद्रूप और परिवर्तन की आहट

सड़कों की सीमाओं में जब/खेत चले आये,
ज्वार-बाजरा-गेहूँ जी-भर/रोये-बिलखाये ।

डामर बिछता गया धरा की/उर्वर छाती पर
पके-अधपके बीज रुले/पुरखों थाती पर
रुपये लेकर भी कृषकों के मन थे कसकाये ।

- नेहा वैद

XX XX

एक वहशी/पाखियों के पर कतरना चाहता है,
तितलियों का चुलबुलापन/क़ैद करना चाहता है।
चाहता है/अबाबीलों के परों को काट लेना
गिद्ध, बाजों की उड़ानों से/गगन को पाट देना
घने बरगद की जड़ों जैसा पसरना चाहता है ।

जानता लेकिन न/यह कि हवा गर्मिने लगी है

खुली खिड़की से सुबह की/रोशनी आने लगी है
फिर नये इतिहास का अक्षर उभरना चाहता है । - नचिकेता

8. विश्वग्राम की संकल्पना और पिसता बचपन

घर में एक न आना-पैसा
बचपन बेच रहा बैलून ।

लाल-गुलाबी-हरा-बैंगनी/सभी रंग उपलब्ध
भूख-प्यास की इच्छाओं ने/थमा दिया प्रारब्ध
नंगे पाँवों में लिपटा है
आशा का रंगून ।

- शिवानंद सिंह 'सहयोगी'

9. ग्राम्य जीवन की कठिनाई और संस्कृति का क्षरण

अखबारों में नहीं छपी है/ऐसी कभी खबर
हवा बैठना नहीं चाहती/बूढ़े बरगद पर ।

पीपल खड़ा उदास बसेरा/छोड़ गई चिड़िया
गीत आम पर नहीं बैठ कर/गाती कोयलिया
पगडंडी हो गई अचेतन/हँसती नहीं डगर ।

- मयंक श्रीवास्तव

XX XX

हम ठहरे गाँव के
बोझ हुए रिश्ते सब/कंधों के पाँव के ।

सुनती हो तुम रूबी
एक नाव फिर डूबी
ढूँढ लिये नदियों ने/रास्ते बचाव के ।

- देवेन्द्र कुमार

XX XX

जिसकी लाठी भैंस उसी की/सबसे बड़ा विधान ।

कहने को तो गाँव सभा का है 'पुतरैहा' ताल
पर पंचों ने मिलकर डाला/उसमें मछली-जाल
'होरी' की बरिया के सूखे/बिन पानी सब धान । - शीलेन्द्र सिंह चौहान

XX XX

सास-बहू में तनातनी है/मनरेगा की कोख जनी है,
भूख-दिहाड़ी के खाते में/नाम एक ही लिख जाएगा ।
सबके घर चूल्हे माटी के/टूटे-फूटे-से बर्तन हैं,
नून-तेल की खटपट होती/मजबूरी के बस नर्तन हैं,

खासों रोज़ उसारे दहा/आँगन कब लिप-पुत जाएगा ? - जयप्रकाश श्रीवास्तव

(यहाँ 'लिख' का तुकांत 'पुत' है, जो मान्य नहीं लगता, पर उद्धरण गीत के सौंदर्यबोध को लेकर है।)

10. पलायन का दंश और उष्माहीन रिश्ते

धूप में जब भी जले हैं पाँव
घर की याद आयी ।

नीम की छोटी छरहरी छाँव में/डूबा हुआ मन,
द्वार पर आधा झुका बरगद : पिता/माँ : बँधा आँगन,

सफ़र में जब भी दुखे हैं पाँव,
घर की याद आयी ।

- माहेश्वर तिवारी

XX XX

गीतों में लिखता है जो पल/वे तूने नहीं जिये ।
मन, कितने पाप किये !

धुंध-भरी आँखें बापू की, माँ की,
तेरे सपनों में क्या रोज़ नहीं झाँकीं,

वे तो बतियाने को आकुल/ तू रहता होंठ सिये ।
मन, कितने पाप किये !

- राजेन्द्र गौतम

11. महानगरीय संस्कृति

हवा बेदम/रौशनी कम
महानगरी की सुबह है ।

रात-भर जो धुआँ उपजा/वही पेड़ों पर टिका है
उधर कोने में/ज़रा-सी झलक-भर/सूरज दिखा है

पेड़ चुप हैं/धूप मद्धम
महानगरी की सुबह है ।

- कुमार रवींद्र

XX XX

ज्यों-ज्यों ऊँचे भवन उठ रहे/नदियाँ लुप्त हुईं
इतने सभ्य हुए शब्दों की/यमुना रेत हुई

अम्मा के आशीषों की धारा भी टूट गयी ।

- राधेश्याम बंधु

XX XX

मुँह पर कसकर कपड़ा बाँधे/महँगा मिनी बैग ले काँधे
आते-जाते फटफटियों से/नज़र मिलाती है लड़की ।

घरवालों को धता बताकर/धोखा देती रहे बराबर
कीमतदार बतौने ऊपर/क्या बतियाती है लड़की ।

- सलीम खाँ फ़रीद

12. न्याय को तरसती सामासिक संस्कृति

मछली घूम रही चकरी पर
 और तेल में देख साधता लक्ष्य धनुर्धर ।
 प्रतियोगी कर दिये दूर जो/सक्षम थे हर लक्ष्य-बेध के,
 वर्ण-जाति के सूत्र सभा में/टाँग दिये सारे निषेध के,
 सूतपुत्र कहकर ठुकराया
 और कर दिया हर अपात्र से मुक्त स्वयंवर ।

- जगदीश पंकज

13. पुरुषवादी सत्ता और स्त्री-पुरुष सम्बंध

वही रोज़ की मारा-पीटी,
 लाठी-डंडा, झपटा-झूमी,
 मर्द दिखाता है मर्दूमी ।
 अपशब्दों की रोका-राकी,
 चली बीच में टोका-टाकी,
 लिये कथन संदेह खड़ा है,
 सुई पुरानी उल्टी घूमी,
 मर्द दिखाता है मर्दूमी ।

- रामकिशोर दाहिया

14. लोकजीवन की छटा

घिर आयी/क्षितिजों पर/मछुआरी शाम ।
 लौट गया है सूरज/घाटी की ओर
 सागर में उठे बहुत/लहरों के शोर
 पाल खोल नौकाएँ/लौटीं तमाम ।

XX XX

घाटों पर अच्छा लगता है/हमको परब नहाना ।
 क्या सम्मोहन, दूर-दूर तक/केवल सिर दिखते हैं
 इस समास में चलते-फिरते कितने घर दिखते हैं
 सब पर मैया किरपा रखना/बेड़ा पार लगाना ।

15. आत्म-संघर्ष और जीवन-दर्शन

कभी-कभी मन मोम/कभी क्यों पत्थर होता है ?
 एक महाभारत बाहर है/एक महाभारत है भीतर
 चक्रव्यूह के भीतर अरि है/अरि है चक्रव्यूह के बाहर

ऐसे में अपने से लड़ना/दुश्कर होता है ।

जैसे दिन में रात छिपी है/और रात में छिपा हुआ दिन

वैसे ही क्रंदन में खुशियाँ/खुशियों में वैसे ही क्रंदन

ऐसे में संयत रह पाना/दूभर होता है ।

- मुकुट सक्सेना

XX

XX

कौन तोर कौन मोर, पता ही नहीं,

जीवन का ओर-छोर पता ही नहीं ।

यह कहता नहीं पता/वह कहता नहीं पता

पता नहीं ज्ञानी को/मूरख अज्ञानी को

राजा को नहीं पता/परजा को नहीं पता

मालिक को पता नहीं/नौकर को पता नहीं

सबके मन कम्पित हैं/सबके सब शंकित हैं

कौन सहर कौन चोर, पता नहीं,

जीवन का ओर-छोर पता नहीं ।

- विनोद तिवारी

16. संघर्ष, साहस और जिजीविषा की रक्षा

‘धूप में जब भी जले हैं पाँव’,

सीना तन गया है/और आदमक्रद

हमारा जिस्म लोहा बन गया है ।

तन गयी है रीढ़ जो मजबूर थी ग़म से,

हाथ बागी हो गये चालाक मरहम से,

अब न बहकाओ/छलावा छलनियों में छन गया है ।

- रमेश रंजक

XX

XX

हम लोहे के चने चबाते/वे खाते लीची ।

क्रदम-क्रदम पर हुई हमारी अग्निपरीक्षाएँ,

झुलस न पायीं किंतु हृदय में पलीं सदिच्छाएँ,

आशा की मुरझायी फ़सलें/आँसू से सींची ।

- आचार्य भगवत दुबे

XX

XX

ख़त लिखा है आपदा के नाम साहस ने

कि फिर आओ तो जानूँ ।

कष्ट दोगी, ठीक है/रोमांच भी दोगी,

कौन-सी पीड़ा कि जो अब तक नहीं भोगी,

रूप बदले घूमती बहुरूपिनी जैसे
कि छुप जाओ तो जानूँ ।

- रामकुमार कृषक

XX XX

शुष्क पत्तों की तरह हर शब्द भागा जा रहा,
और मुझमें एक अंतर्द्वंद्व चलता जा रहा ।

शब्द ढोते, अर्थ मुर्दा हो गये अनुकूल,

यंत्रवत सब हो गये हैं भावना को भूल,

सच अकेला वक्रत के विपरीत चलता जा रहा । - वीरेंद्र आस्तिक

XX XX

थकी उम्र पर चढ़ी ताज़गी/हँसकर जीने की ।

देहरी थकी, झटक के कंधे/फेंकी थकन लदी

चूड़ी हँसी, लहक बाँहों में/भर-भर आई नदी

गुलदस्ते-सी महकी लौटी/गंध पसीने की ।

ताज़ी हवा आज खुश/पूरे घर-भर में डोली

आँसू-भर खाली पीपे की/व्यथा हँसी बोली

है पहली तारीख़ दोस्तो/आज महीने की ।

- कृष्ण भारतीय

17. नारी-विमर्श : श्रम को सम्मान और आशावादी स्वर

देह साँवली/पहने चकमक

बूँद पसीने की ।

परब-तिहारों पर भी/तन पर वही पुरानी साड़ी,

जंगल-झरने-पेड़-पहाड़ों पर/लगती भारी,

आधी झुकती डालों वाली

कली नगीने की ।

- शांति सुमन

XX XX

लड़की जाग गयी है

अब घर-बाहर सब सँभाल लेगी ।

पाँवों से ज़मीन नापेगी/हाथों से आकाश रचेगी,

आँखों से भूगोल, ख़यालों से/ऊँचा इतिहास रचेगी,

हल करने के लिए

वक्रत को नई सदी के सवाल देगी ।

- राधेश्याम शुक्ल

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि नवगीत का सौंदर्यबोध उसके शिल्प में नवीनता और टटके बिम्ब-प्रतीकों वाली भाषा से प्रकट होता है, जो उसे नयी अर्थवत्ता से समृद्ध करता है।

सन्दर्भ :-

1. गीत वसुधा, सं. नचिकेता, अवधेशनारायण मिश्र, यशोधरा राठौर, युगांतर प्रकाशन, डी-750, गली नं.4, अशोक नगर, शाहदरा, दिल्ली।
2. समकालीन गीत कोश, सं. नचिकेता, प्रकाशक : उद्धावना, एच-55, सेक्टर-23, राजनगर, गाज़ियाबाद (उ.प्र.)
3. नवगीत और उसका युगबोध, सं. राधेश्याम बंधु, प्रकाशक : समग्र चेतना, बी-3/163, यमुना विहार, दिल्ली।
4. नवगीत के नये प्रतिमान, सं. वही, प्रकाशक : कोणार्क प्रकाशन, बी-3/163, यमुना विहार, दिल्ली।
5. नवगीत का लोकधर्मी सौंदर्यबोध, सं., प्रकाशक : वही।
6. शब्दायन, सं. निर्मल शुक्ल, उत्तरायण प्रकाशन, सी-2/114 सेक्टर एफ़ (विस्तार) एल.डी.ए. कॉलोनी, कानपुर रोड, लखनऊ।
7. गीत शती, सं. रामस्वरूप सिंदूर- राजेन्द्र वर्मा, आशा प्रकाशन, 3/29, विकास नगर, लखनऊ।
8. गीत-गुंजन, सं. राजेन्द्र वर्मा, प्रकाशक वही।
9. रखो खुला यह द्वार, कुमार रवींद्र, उत्तरायण प्रकाशन, कानपुर रोड, लखनऊ।
10. मूक संवाद के स्वर, जगदीश पंकज, ए.आर. पब्लिशिंग कंपनी, 1/11829, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली।
11. हैं जटाऊ से अपाहिज हम, कृष्ण भारतीय, अनुभव प्रकाशन, ई-28, लाजपत नगर, साहिबाबाद, गाज़ियाबाद (उ.प्र.)।
12. लोकोन्मुखी रुद्राक्ष, शिवानंद सिंह सहयोगी, 1/20 अयन प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली।
13. टूटते तिलस्म, शीलेन्द्रकुमार सिंह चौहान, प्रवाहिनी प्रकाशन, बंधरा बाज़ार, लखनऊ
14. शिवम (पत्रिका, अगस्त 2010), सं. विनोद तिवारी, क्वालिटी पैराडाइज़, कोलार रोड, भोपाल।
15. उत्तरायण (नईम स्मृति विशेषांक), सं. निर्मल शुक्ल, एम-168, आशियाना कालोनी, लखनऊ।

